गुरुदेव के प्रवचन

साधना परिवार
स्वामी रामानन्द साधना धाम
संन्यास रोड, कनखल
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

संकलन - दिसम्बर 2021

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक
साधना परिवार
स्वामी रामानन्द साधना धाम
संन्यास रोड, कनखल, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

कम्पोजिंग
ग्रेटो इंटरप्राइजेज
जी-30, सरिता विहार, नई दिल्ली-110076, दूरभाषः 9910794578

विषय-सूची

प्रस्तावना. 5

गुरुदेव के प्रवचन 7

1. 9 नवम्बर, 1944 – यह जन तेरा सेवक है..... 7
2. 9-10 जून, 1946 – वैर और प्रीति. 7
3. 16 जून, 1949 – कर्मयोग. 13
4. 17 जून, 1949. 16
5. 11 जुलाई, 1950 – मेरी कार्य-पद्धति. 17
6. महत्त्व का बीज. 23
7. Refuse to be upset. 26

प्रस्तावना

गुरुदेव के प्रवचन

9 नवम्बर, 1944

यह जन तेरा सेवक है

न मैं करता, न कर सकता,
कर्ता धर्ता हो अखिलेश।
कृपा भी करते तुम ही केवल,
जय जय तेरी सदा, महेश।
तिनका भी बिनु आज्ञा केवल,
न हिल सकता है, जगनाथ।
सब शक्ति की तुम शक्ति हो
देवों के हो तुम ही नाथ।
'मैं करता हूँ - कर सकता हूँ',
यह विडम्बना केवल है।
'तुम कर्ता हो', हम नत मस्तक,
यह जन तेरा सेवक है।।

❖ ❖ ❖

9-10 जून 1946

वैर और प्रीति

कभी कभी ऐसा होता है कि अपने घर के व्यक्ति से ही हम झगड़ते हैं; किन्तु उस पर यदि कष्ट आ जाता है तो अधीर हो जाते हैं - प्रेम प्रदर्शित करते हैं। यह विशुद्ध प्रेम नहीं, विशुद्ध प्रेमी तो अपने ही दोष देखता है प्रेमी के नहीं।

जिसके प्रेम का दायरा बढ़ जाता है वह तो कहता है - **''अब मैं कासों वैर करौं।''** वह दुष्ट आदमी में भी भगवान को बैठा देखता है। उसे बुरे आदमी का भी मानसिक स्तर मिल जाता है और वह उस का भी दृष्टा बन जाता है। बुरा जो सोचता है, वह उस का साक्षी बन जाता है और बुरे की बुराई का कारण मिल जाता है तब गलत फहमी नहीं रहती।

किसी ने एक खोट की, चाहे उस का कारण कुछ भी रहा हो। किन्तु हमने जो कारण सोचा वह हृदय-पट पर जम गया। फिर उससे और खोट हुई, हमने समझा वह तो खोटा है ही, देखो फिर खोट की। इस तरह हमें उस की सारी बातें खोट से भरी दिखाई देने लगती हैं और स्थायी वैर हो जाता है। यदि पहली खोट पर हम दृष्टा बन जाते तो दूसरी खोट पर हमारा ध्यान न जाता। इस तरह वैर का अंकुर ही नष्ट हो जाता। सास-बहू, देवरानी-जिठानी, सब में यही चलता है।

पाप से कैसे बचो:- काम की वासना सामने आती है, दृष्टि दूषित हो जाती है, तो परेशान न हों। संस्कार थे, सामने आ गये। प्रभु के आगे निवेदन कर दो और उस के सामने माथा टेक दो। स्त्री को देख कर सोचो - कि उसी प्रभु की शक्ति इस में है। यह हमारी माँ है। मातृभाव आने दो। उसी का स्वरूप देखो, वासना शान्त हो जायगी।

पाप से डरने से वह सिर पर सवार हो जाता है। उसे तटस्थ हो कर देखो। उस की क्रियायें देखो; परन्तु प्रभु को अपना मददगार समझे रहो।

दुनिया को सुधारने की फिक्र न करो। जिसने दुनिया बनाई है वही संभाल करेगा। तुम अपना सुधार देखो। जब किसी के कार्यों को तुम्हारा हृदय शान्ति पूर्वक सोचेगा, अपने दृष्टिकोण में बाधा न लाओगे तब तुम अधिक ऊँचे उठ सकोगे। हम सर्वज्ञ नहीं, अकसर भूल भी करते हैं।

कष्ट में भी प्रभु की कृपा देखें:- जब घड़ा पक जाता है तब पानी को भी अपने अन्दर रख सकता है। लोकोपकार भी कर

सकता है। अलग उपयोग भी हो जाता है। परन्तु कच्चा घड़ा तो जरा से पानी से ही गल जायगा। लोकोपकार भी न कर पायेगा। प्रभु हमें पक्का बनाने को पीट-पाट कर गढ़ता है उस गढ़ाई से भय न खायें वरन प्रभु का उपकार मानें।

मेरा रामः– मेरा राम दशरथ-नन्दन भी है और परात्पर कृष्ण भी और इससे परे भी वही राम है।

ईसाइयों ने बाइबिल की चारदीवारी लगा रखी है। मुसलमानों ने कुरान की ओट ले रखी है। इसी तरह हिन्दुओं ने विभिन्न ग्रन्थों की। हम तो इन चारदीवारियों के अन्दर भी भगवान की प्राप्ति के मार्ग की एकता देखते हैं।

मैं रामायण को अपने ढंग से देखता हूँ और गीता को भी अपने ढंग से। रामायण में वर्णित वर्णाश्रमधर्म को भी समझता हूँ और उन की उपयोगिता को भी; किन्तु आज के जमाने में वह मुझे अनावश्यक मालूम होता है।

यह मत सोचो मैं ऐसा न करूँगा तो इसका यह नुकसान हो जायगा, वह नुकसान हो जायगा। प्रभु सब का सँभालने वाला है।

वह बात जिससे किसी के आत्म सम्मान का हनन हो, हिंसा है, घोर हिंसा है। वाणी मधुर रखो, ऐसी बात मत कहो जो दूसरों के हृदय पर चोट करे।

दिनांक 10.6.1950 को स्याही देवी शिविर में श्री स्वामी जी ने कहा :-

गुरु शिष्यः– दो प्रकार के लोग होते हैं - एक निवृत्ति मार्ग पर चल रहे हैं, एक प्रवृत्ति मार्ग पर। निवृत्ति मार्ग वालों को अपने संस्कारों को क्षय कर डालना है। मातृ-शक्ति के सामने रख देना है वही जिम्मेदार है। प्रवृत्ति वाले जिनमें चेतना नहीं जगी है अपने विवेक से शुभाशुभ कर्म करेंगे।

विद्यार्थियों में - जिन में आत्म चेतना नहीं जगी, संयम सम्बन्धी शिक्षा देनी ही चाहिए।

मुझ में चेतना जग चुकी थी श्री गुरु महाराज की कृपा से। फिर वैराग्य तीव्र हुआ। घर वालों को एक महीने का नोटिस दे दिया कि

मैं तो साधु हो जाऊँगा। बहुत जोर पड़े। बड़ा रोना धोना हुआ। बड़ी समझाई बुझाई हुई। पर सब बेकार गई। गुरु जी के पास गया। वे बोले गृह त्याग मत करो। मैंने कहा – ये मेरा आत्म समर्पण है – किन्तु संन्यास का तो ईश्वरीय आदेश प्रतीत होता है – इसके लिए मत रोको। वे बोले सशर्त समर्पण तो आत्म समर्पण नहीं है। मैंने कहा – माँ गुरु जी की वाणी में मौजूद है। वह वही कहलायेगी जो उसकी इच्छा है। यही हुआ। गुरु जी ने पूछा। मैंने कह दिया जो आप की आज्ञा। तब बोले – अच्छा मेरा आशीर्वाद है। किन्तु मुझसे सम्बन्ध बनाये रखना, पत्र व्यवहार करते रहना।

अभी मुझे ज्ञात हुआ गुरु जी बीमार हैं। मैंने लिखा – मैं आने को तैयार हूँ। यदि उनकी आज्ञा होती तो मैं काम छोड़ कर भी जाता। किन्तु मुझे विश्वास है साधारण अवस्था में वे कभी न लिखेंगे।

गुरु भगवान और शिष्य का सम्बन्ध ऐसा है कि – गुरु का सम्बन्ध भगवान से होता है और शिष्य का गुरु से। इस प्रकार भगवान की सत्ता गुरु द्वारा शिष्य को प्राप्त हो जाती है। जितना ही शिष्य गुरु से अभेद लाभ करता है उतना ही भगवान के निकट पहुँचता है इसलिये गुरु का दर्जा बहुत ऊँचा – ईश्वर के समान माना है।

इसी समय आगे कहा –

यह योग जिसमें भीतर चेतना शक्ति जाग्रत की जाती है तान्त्रिक साधना है। हमारी साधना भी तान्त्रिक साधना है।

मुझे ऐसा लगता है कुछ साधक मेरे कुछ विचारों से सहमत नहीं। फिर भी वह मुझसे बँधे रहते हैं और मैं उनसे बँधा रहता हूँ। वे मुझे छोड़ना चाहें तो भी नहीं छोड़ सकते और मैं भी उन्हें नहीं छोड़ सकता। मेरी विचारधारा उन में स्वतः प्रवाहित होने लगती है। मेरे गुरुदेव की सामाजिक विचारधारा से मेरा अन्तर था पर मैंने तो तय किया था कि जिन विचारों में मतभेद रहेगा उन पर उनसे बहस न करूँगा। वे अपनी जगह पर काम करेंगे मैं अपनी जगह।

मुझ में बहुत छोटी अवस्था में चेतना जाग्रत हुई। यह दर्जा जिसे दीक्षाचार्य कहते हैं उम्र भर की साधना के बाद मुश्किल से मिलता है। वही गुरु कृपा से बहुत थोड़ी अवस्था में ही प्राप्त हो गया।

जो सम्पर्क में आता है उस पर प्रभाव पड़ता है और शक्ति का अवतरण भी हो जाता है उस का स्वभाव ही बदल जाता है। अब तो मेरी दशा विचित्र हो गई है वह वश की बात नहीं। वृन्दावन जाने के कारण।

इसी शिविर में दूसरे अवसर पर कहा –

साधकों से:– उसे प्राप्त करने का रास्ता विहंगम है। व्यक्ति नीचे भी चलता है ऊँचा भी चलता है। इस तरह आगे बढ़कर वहाँ पहुँचता है। मानसिक धारणायें छोड़नी होंगी। भय का खटका न करो।

सिर देना सहज है किन्तु अपने आपे को प्रभु को सौंपना कठिन है। तिल तिल करके अपने आपे को मिटाना है। जितना इस हालत से गुजरता है उतना ही निश्चिन्त होता जाता है।

शान्त होकर प्रभु से युक्त होना ज़रूरी है। हमारा योग आँखें मूद कर युक्त होने का नहीं है। जितना वह हम में समा जाता है, हम उसमें उतने ही समा जाते हैं। उतना ही हमारी कठिनाइयों का हल होता जाता है।

विकार उमड़ने से संस्कार बंधने लगे, उनसे भागने लगे। यह ठीक नहीं। यदि और भीतर प्रभु से अपने को युक्त कर सकें तो सब कुछ सुगम हो जाए। मन की सब गतियों में उसे देख सकें, यह ऊँची बात है। जब यह सम्भव होगा तब मानसिक जगत के बन्धनों से मुक्त हो जायेंगे। प्रभु जैसे प्रकृति के साथ खेलते हुए भी उससे बँधे नहीं हैं वैसे ही वह व्यक्ति प्रकृति में रहते हुए भी उस प्रभु से युक्त रहता है। यह दृष्टिकोण हो जाये तो सारा स्वरूप ही बदल जाय।

जिसमें शक्ति जग गई है वह मुँह से माँ कहता है और इतने में ही शक्ति का अवतरण हो जाता है। जिसकी ऊँची स्थिति हो गई है वह अपनी क्रिया का साधक में संचार कर सकता है। एक स्थिति में माँ स्त्री के रूप में खड़ी, प्रेम भरी आँखों से देखती नजर आती है। दूसरी स्थिति में, जो पश्चयन्ती के क्षेत्र में होती है उसमें माँ सब कुछ अपने में ले लेती है। उस समय सूक्ष्म सी समीपता की प्रतीति होती है जब वह प्राण तक में उतर आती है। हम किसी

देवी में या लौकिक व्यक्ति में निष्ठा प्रतिष्ठित कर दें तो माँ का अवतरण उसमें हो जाता है। तब वह आवाज वह व्यक्ति नहीं सुनता बल्कि उसमें अवतरित शक्ति हमारी बात सुनती है।

साधक इस विशेष मांग को उसके सामने रख दे कि वह प्राण के क्षेत्र में उतर आए। जब वह चाहेगी तब उतर आएगी हम तो उस का होने के लिये समीप जा रहे हैं। अतः तुच्छ मांग न हो। माँ से यह भी माँग सकते हैं कि वह बल दे कि हम उसे सह सकें।

जिसे हम मन से सीमित कर लेते हैं वास्तव में वह निस्सीम है। काया से परे के तत्त्व को हम नहीं जान पाते। हम बाह्य स्वरूप को जानते हैं।

जब हम ब्रह्मा, विष्णु, शिव की बात कहते हैं तब उसकी एक कला की ओर संकेत करते है। राम पुरुषोत्तम हैं ब्रह्मा, विष्णु, शिव उसकी कलायें हैं।

जिसे प्रभु का विश्वास प्राप्त हो गया है उसे कोई हिला नहीं सकता। भगवान की कृपा होने से जरा सा भी सजेशन मिलता है। और आदमी बदल जाता है।

बहुत चर्चा से वह तत्त्व नहीं मिलता, कुशाग्रबुद्धि से नहीं मिलता, बहुत सुनने से भी नहीं मिलता। जिस पर वह कृपा करता है वही प्राप्त कर पाता है।

सहस्रार जाग्रत होने पर सब केन्द्र एक साथ जाग्रत हो जाते हैं अवरोही होने के बाद जब तक आरोह नहीं हुआ शान्ति नहीं मिलती।

शास्त्रों की उपासना में विभिन्न चक्रों को जाग्रत करने के लिये दूसरा मार्ग पकड़ते हैं। चक्रचिन्हों का ध्यान भी होता है और चक्र कठिनाई से जाग्रत होते हैं। अपने मार्ग में निर्विघ्न रूप से चक्र जग जाते हैं।

❖ ❖ ❖

16 जून, 1949

कर्मयोग

कर्म बन्धन नहीं वरन कर्म बन्धनों का विच्छेदक है, यदि तीव्र निष्ठा हो। कर्म में अनासक्ति प्रधान है। दूसरे, कर्म को प्रभु के समर्पण कर दें। जो कर्म यज्ञ के निमित्त हो जाता है वह बन्धन नहीं होता। जो अपने लिये किया जाता है वह बन्धन होता है। कर्म ही 'साधन' बन गया, यह विशेषता है। अर्जुन के लिये लड़ाई ही साधन थी, अतः प्रभु ने लड़ने की आज्ञा दी।

गीता का निजी योग संन्यास नहीं है कर्म है। अर्जुन ने अन्त में कहा – **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'**। उसने युद्ध को भगवान का

तभी तो नरेन्द्र नाथ ने स्वामी विवेकानन्द बन कर अपने गुरुदेव श्री रामकृष्ण परमहंस के आदेशानुसार 'दरिद्रनारायण' की सेवा का प्रवर्तन किया। देश के युवकों का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा था – 'तुम्हें अभी तक पढ़ाया गया है – **'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवोभव, पीड़ित देवो भव, आर्त देवो भव।** उन्होंने कहा था – 'सारी उपासना का सार है – पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना। जो शिव को दीन-हीन में, दुर्बल में और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है और जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है उसकी उपासना तो केवल प्रारम्भिक है। जो मनुष्य शिव को केवल मन्दिरों में देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते हैं, जिसने बिना किसी प्रकार जाति, धर्म या सम्प्रदाय का विचार किये, एक दीन-हीन में शिव को देखते हुए उसकी सेवा और सहायता की है।

स्वामी विवेकानन्द ने सेवा की अपनी सारी प्रेरणा अपने गुरुदेव से प्राप्त की थी। श्री रामकृष्ण का जीवन ही सेवामय था, वे सही अर्थों में सेवा मूर्ति थे। अन्तिम समय में जब उन्हें गले का कैंसर हो गया था और चिकित्सकों ने उन्हें बोलने से मना किया था, तब भी वे आगत जिज्ञासुओं से वार्तालाप करना बन्द न करते। सेवकों और भक्त के अधिक निवेदन करने पर कहते, यदि एक व्यक्ति की सहायता करने के लिये मुझे बीस हजार भी जन्म लेने पड़े तो स्वीकार हैं।' ऐसा था उनका सर्वात्म भाव और सेवा परायणता!

निर्देश समझ कर स्वीकार किया। भगवान के प्रति निष्ठा का फल यह हुआ कि जो कर्म किसी के लिये रस्सी था वह चाकू बन गया।

विद्यार्थी में, आर्टिस्ट में, फल की आसक्ति भले ही न हो, कर्म में आसक्ति अवश्य हो जाती है। यह रजोगुण की प्रधानता में होता है। जब सतोगुण की वृद्धि हो जाती है तो कर्मशक्ति की कमी हो जाती है। एक दम जोश पैदा होना विकास की निम्न कोटि की स्थिति है। सन्तुलन उच्च स्थिति है।

विकास के क्रम में हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं हमारा दृष्टिकोण बदलता रहता है। एक स्थान पर जो ठीक है वही दूसरे स्थान पर बेठीक है। भीतर प्रभु से युक्त होकर उसका निर्देश प्राप्त करने की कोशिश करो। अनासक्ति भाव से, शरणागति का भाव लाने से समझ साफ होगी फिर हमारा रास्ता साफ होगा।

कर्म का बाह्य रूप निर्णायक नहीं। उसकी निष्ठा ही निर्णायक है कि वह बन्धन का कारण होगा या छुटकारे का। ईमानदारी से कर्म चुनो। उसमें निष्ठा रखो।

पहले जब किसी से झगड़ा हुआ बराबर उसकी ही बुराई सोचते रहते थे, अब अपनी ही गलती देखी और झगड़ा शान्त हुआ। आदमी चैन में हो जाता है। पशुओं के पीछे एक चेतन सत्ता है, उसी के द्वारा पृथक-पृथक रहने वाले पशु समूह में, एक सा परिवर्तन होता है। इसी तरह किसी खास जाति में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति एक खास रंग में रंगा रहता है। उसमें विशेष संस्कार होते हैं। कभी-कभी जाति के पीछे चेतना काम करती है। जैसे जर्मनों के पीछे एक चेतना ने हिटलर को जन्म दिया।

तीर्थः– तीर्थ स्थानों पर दृष्टि है खास देवों की। इन स्थानों पर विशेष देवों का विशेष प्रभाव है। विश्वनाथ बनारस के अधिष्ठाता देव हैं। वह मन्दिर उस शक्ति का केन्द्र है। बनारस के मन्दिर में जब मैं कोने में खड़ा हुआ और 'नमामीशमीशान निर्वाणरूप' वाला स्तोत्र पढ़ने लगा, तो उससे मुझे ऐसा लगा जैसा शक्ति अवतरण के समय होता है अर्थात ऐसा लगा मानो उसके देवता ने आशीर्वाद दिया। अवस्था बदल गई। गहरा प्रभाव पड़ा।

5 जनवरी 1949 की बात है ऐसा लगा शंकर भगवान बुला रहे हैं। मैंने कहा – मैय्या! तू कुछ और खेल कराना चाहती है। तेरी इच्छा। विचित्र प्रभाव पड़ा। भीतर की अवस्था बदल गई। ऐसा लगा नाम का दान मिल रहा है। वहाँ साधन करने से नाम का दान मिलता है। साधन से शक्ति का परिपाक होता है और यदि साधक पहले से तैयार हो तो यह नाम का प्रभाव उसे कहाँ का कहाँ पहुँचा देता है। तीर्थ में गड़बड़ भी होती है परन्तु जो उस प्रभाव के क्षेत्र में, ऊँचे स्तर पर पहुँच जाता है, वह अवश्य लाभान्वित होता है।

एक ओर तीर्थ, मन्दिर और व्यक्ति विशेष का प्रभाव है दूसरी ओर साधक की ग्रहणशीलता है। साधक में जितनी ग्रहणशीलता होती है उतना ग्रहण कर पाता है।

जाप का प्रभावः– जब हम भजन करते हैं तो अनजाने में भी ऊँची चेतना उतर कर हमारी बुद्धि को ही नहीं, हृदय को भी प्रभावित करती है। वह इतनी स्थिर होती है कि हलचल नहीं होती। जब हमारा हृदय उससे युक्त हो जाता है तो ऊँची चेतना की समता उसमें बस जाती है, तब सुख-दुःख का पहले का सा प्रभाव नहीं पड़ता। फिर हम चाहें तब भी पहले का सा प्रभाव नहीं पड़ता।

शरीर में जो हृदय का केन्द्र है वह विषाद और हर्ष का केन्द्र है। उससे बहती हुई धारायें हृदय को प्रभावित करती हैं। नाम स्मरण द्वारा शक्ति जाग्रत होती है और मनुष्य कुछ का कुछ बन जाता है।

शुरू में दिमाग बहुत सोचता है यह होगा वह होगा। फिर गम्भीरता आ जाती है और आदमी झंझट में नहीं पड़ता। बात सामने आई और भीतर की स्फूर्ति वह काम कर देगी जो पहले नहीं होता था। कल्पना की शक्ति ठण्डी पड़ जाती है, तर्क का स्थान अन्तःस्फूर्ति ले लेती है।

सोने का नया जेवर बनवाना चाहें, तो पहले वाले जेवर को निकालना पड़ेगा।

परिस्थिति बदले या न बदले, हमें बदलना चाहिये। अपना दृष्टिकोण बदल जाये। उस प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये। वह हमारा सब कुछ बदल सकता है। उस पर विश्वास करो। अपने को ढीला छोड़ दो।

वह तेजी से बदल देगा। आप बदलेंगे तो आपकी परिस्थिति अवश्य बदल जायेगी। हमारा दिल – हमारे विचार बदलने से व्यवहार भी बदल जायेगा। जितनी बड़ी परेशानी उतनी ही बड़ी साधना भी होती है।

❖ ❖ ❖

17 जून, 1949

गीता के अध्याय 12 के श्लोक 18 व 19:–

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

समताः–

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

की व्याख्या करते हुए स्वामी जी ने कहा –

समता के मूल में समान रूप से हितचिन्तन है। जिसका जिसमें हित है उसके लिये वही व्यवहार समता है। जिन विशेष आन्तरिक तत्त्वों से शरीर बना है वे दो व्यक्तियों में एक से नहीं होते। भगवान सबके लिये सम हैं, फिर भी बाहरी विषमता दिखाई देती है। बाहरी विषमता आन्तरिक विषमता की द्योतक नहीं। समता को समझना कठिन है। कुछ लोगों के प्रति बाहरी समता का व्यवहार करते हुए भी आन्तरिक विषमता रहती है। सम व्यक्तियों को पहचानने के लिये अपने अन्दर समता होनी चाहिये। सन्तों को पहचानने के लिये सन्त होना चाहिये।

द्वेष हमारे विकास का कांटा है। हमारा शत्रु है। यह पहले समझ लो, दिमाग साफ कर लो। शान्ति और चैन के रास्ते की मांग है कि द्वेष कहीं नहीं हो। घृणा के बदले में प्रेम हो। ठुकराने के बदले में ठुकराने की बात न हो।

❖ ❖ ❖

11 जुलाई, 1950

मेरी कार्य-पद्धति

मैं उस परम सत्ता को माँ की भावना के द्वारा जानता हूँ। यह भावना इतनी गठी हुई है कि हिलाये नहीं हिल पाती। **'हम बालक तुम माय हमारी'** मानो मेरी नस-नस में बसा हुआ है। यदि सहज में मातृभावना स्त्रियों के प्रति जग जाती है तो कोई विस्मय की बात नहीं। बालकपन मेरे लिये सहज है। इसी कारण से स्त्रियाँ और बच्चे मुझसे शीघ्र ही हिल-मिल जाते हैं। यह तो मेरी सामान्य भावना का परिणाम है।

दूसरे, स्वभावतः मैं अपने घर के किसी एक व्यक्ति से (प्रायः किसी बच्चे से) एक कर लेता हूँ, उसकी दृष्टि से औरों को देखता और सम्बोधित करता हूँ। इससे भी कोई माँ बन जाती है कोई बहिन और कोई भैय्या। मैं घर का-सा हो जाता हूँ।

वह महाशक्ति मेरे लिये तो दूर की सत्ता नहीं है। मैं तो सदैव उसमें हूँ और वह मुझमें है। जब मैं किसी माँ की गोद में सिर रखता हूँ तो वह वेग से उतर आती है उसमें और उसके द्वारा मुझमें। इस प्रकार का वेगवान अवतरण बड़ा प्रबल स्थाई प्रभाव रखता है दूसरे व्यक्ति पर। मैं भी उस माँ की कृपा के प्रबल प्रवाह को प्रतीत करता हूँ। मेरे लिये यह साधना होती है। दोनों के लिये माँ का आशीर्वाद होता है।

प्रेम की जगी हुई अग्नि दग्ध कर देती है कुसंस्कारों को। अनन्यता सहज में पनपती है। जो त्याग वैराग्य से हो सकता है उससे अधिक हो जाता है प्रेम भरी सेवा से। यह रास्ता निराला है इसमें सन्देह नहीं।

मोह को निकाल डालना मजाक नहीं है, परन्तु मोह भी जब अपने इष्ट के प्रति होता है तो वह ऊँचा उठाने वाला होता है। जब तक उसकी उपयोगिता होती है तभी तक होता है, फिर वह शान्त हो जाता है। विकलता भी शान्त होनी स्वाभाविक ही है, मैं तो

ऐसा ही समझता हूँ। परन्तु अभी मेरे पास इस बात का व्यावहारिक प्रमाण नहीं है। ज्ञानमार्ग से उदाहरण लीजिये - क्या मोक्ष की इच्छा के बिना ही आगे बढ़ा जाता है? पर मोक्ष की इच्छा भी तो इच्छा होती है और इच्छा मात्र तो हेय है ही परन्तु मोक्ष की इच्छा ठीक समझी जाती है; क्योंकि वह क्रमशः सभी इच्छाओं को शान्त कर देती है और अन्त में स्वतः शान्त हो जाती है। ऐसे ही है भक्त की प्रेममयी विकलता।

मैं सोचता हूँ अनेकों के लिये। मेरी प्रबल गृहस्थी है, मुझे दूसरों के दुःख की चिन्तायें हैं। मैं सभी कुछ करता हूँ उनके लिये। मेरी अनेक बेटियाँ और बेटे हैं, बहिने हैं। अबके मैंने दूल्हा भी बनाया है। यह सभी क्यों? इसलिये कि मैं जीता हूँ सेवा के लिये। मैं जीता हूँ दूसरों के भीतर जागृति के लिये। मैंने ऐसा ही बनाया है इसे। परन्तु यह सब करते हुए - 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा प्रतीत नहीं होता। किसी से विलगने पर व्यथा नहीं होती। ऐसा लगता है, माँ यह प्रबल खेल कर रही है। यह यन्त्र है और कभी यह भाव भी नहीं रहता। रहती है बस मस्ती। बन्धन का भय नहीं है। पतन का डर नहीं है। कल को यह काम होता ही रहे इसकी चिन्ता नहीं है। उसके आगे कण-कण झुका है, वह चाहे जहाँ रखे और जैसे चाहे रखे। सभी नाते उसके हैं, सभी काम उसके हैं, सभी प्यार उसका है और उसी पर उड़ेला जाता है। यह है वस्तुस्थिति।

मैं प्रेम को प्रभु का रूप देखता हूँ। मैं प्रेम को आत्मा की जागृति का चिन्ह समझता हूँ। मैं प्रेम करने की - निर्मल दिव्य प्रेम करने की योग्यता को प्रभु की समीपता का पैमाना मानता हूँ। मैं प्रेम को निर्मल करने वाला, प्रभु का कर देने वाला, अनन्य बना देने वाला साधन समझता हूँ। मैं उपासक हूँ प्रेम रूपी प्रभु का। मुझे वह सगुण और निर्गुण दोनों ही दीखता और अनुभव में आया है। मैं प्रेम को वासनाओं को क्षीण करने का सुगम साधन समझता हूँ। मैं प्रेम को तप, त्याग, वैराग्य, संन्यास सबसे बड़ा प्रबल साधन समझता हूँ प्रभु के चरणों तक पहुँचने का। विफलता प्रेम की साधना के काल में संगिनी है। भक्ति की पराकाष्ठा मुझे प्रेम ही दीखता है।

क्योंकि ऐसी मेरी अनुभूति है, ऐसी मेरी धारणा है। तभी तो लोगों में सहज से प्यार जग जाता है। उस प्यार में कोई वासना तो आपने न देखी होगी। वह तो वासनाओं का विस्मरण करा देता है। हाँ मेरे प्रति एक विचित्र भावना जगती है। मैं जानता हूँ कि मैं इष्ट बन कर सामने आ जाता हूँ दूसरों के भीतर। वास्तव में यह मैं नहीं हूँ। वह तो वह होता है जो मेरे भीतर काम करता है, जो दूसरों में जागृति करता है, जिससे महाशक्ति का अवतरण होता है। वह जो सहज से सम है, शान्त है और दिव्य है।

आखिर हम भगवान को किसी भाव में देखते हैं। किसी रूप का निर्माण करते हैं उस घट-घट वासी राम के लिये। वह एक तस्वीर सी आ जाती है। वह उस अनन्त चेतना के प्रवाह का मार्ग सा बनकर जुड़ जाता है साधक के साथ। यह मेरे लिये भी उतनी विस्मय की बात है जितनी औरों के लिये। मेरा कोई निजी संकल्प इस विषय में नहीं होता। हाँ इतना जानने लगा हूँ कि जो जितना अधिक मुझे स्वीकार कर पाता है उतनी ही ऊँची चेतना का प्रवाह उसमें बह जाता है और उतनी ही जल्दी उसका जीवन शान्त होने लगता है। उसके संस्कारों का क्षय होने लगता है। ऐसा समझता हूँ कि वह शक्ति जिस तक पहुँचने के लिये सात आसमान पार करने पड़ें वह इस यन्त्र के द्वारा पास में ही उतरी हुई मिल जाती है। तभी तो इतनी जल्दी से और प्रबल प्रभाव होता है। समर्पण का रास्ता भी तेजी से खुलने लगता है।

यह सब में तटस्थ भाव से लोगों के अनुभवों के आधार पर जानता हूँ। वैसे मेरी कुछ जानकारी नहीं है।

जागृति का साधन है प्यार। जब तक दूसरा व्यक्ति निःसंकोच नहीं हो जाता, मेरे प्रति उदार तथा कोमल नहीं हो जाता, चाहने पर भी मैं उसकी सेवा नहीं कर सकता। मैं अपने को असहाय प्रतीत करता हूँ। एक ही उपाय होता है कि उसका दिल पिघले। वह मुझे अपना ले। इसीलिये किसी को बेटी बनाना पड़ता है और किसी को बेटा। किसी की दुल्हन बनना पड़ता है और किसी का दूल्हा।

यह रहस्य है सारे खेल का। इसकी प्रत्यक्ष उपयोगिता खूब प्रमाणित भी हुई है।

मैं जानता हूँ लोगों को विफलता होती है। मैं जानता हूँ लोगों के लिये अपने सभी रिश्तेदारों से अधिक प्यारा हो जाता हूँ। मैं इसमें दोष नहीं देखता। अध्यात्म का प्रतीक होकर, उस माँ का प्रतीक होकर ही मैं दूसरों के सामने आता हूँ और इस भाव में ही मुझे स्वीकार करने से आगे चला जाता है।

इस सब में मेरा निजी कुछ नहीं है। मैं तो उस खिलाड़ी के खेल को देखता हूँ जैसे और देखते हैं। खेलता वही है फिर भी वह तो अछूता ही रहता है। उसमें अनन्त सामर्थ्य है, अनन्त प्रेम है और अनन्त बोध है। जो प्रकट होता है वह तो नगण्य है।

अब रहा मेरा साधुभाव और मर्यादायें। मेरी साधना और मेरी विचारधारा पुरानी साधना और विचारधाराओं से निराली है। अब तक लोगों ने जीवन से भागना सिखाया है, घर गृहस्थियों को छोड़ना, सांसारिक बन्धनों को तोड़ना, काम-धाम के प्रपंच से मुँह मोड़ना सिखाया है। मैंने तो सीखा है सभी कुछ प्रभु से स्वीकार करना। जहाँ रखा है उसने रखा है और हमारे हित के लिये रखा है। जिधर हमारा हित होगा उधर वह ले चलेगा। जब हम उसके होने को तैयार हैं तो वह ले चलेगा हमें। हमें तो उस पर डालना है अपने को।

मैंने सीखा है कि संसार से भागने से आसक्ति नहीं जाती, पैसे के त्याग से लोभ नहीं जाता, स्त्री के अदर्शन से काम नष्ट नहीं होता। यह बीमारियाँ भीतर छिप जाती हैं ऐसा करने से। इसका उन्मूलन होता है प्रभु की कृपा से, महाशक्ति के अवतरण से। ऊँची चेतना के भीतर जग जाने से यह काम क्रमशः होता है और संस्कारों का क्षय इसके लिए आवश्यक है। इसलिये जीवन की सभी अनुभूतियाँ मुझे साधना दीखती हैं। स्त्रियों में मुझे महाशक्ति माँ दीखती हैं काम वासना को क्षय करने के लिये इस रूप को धारण किये हुए। रुपया मुझे लोभ के संस्कार की निवृत्ति का मार्ग दीखता है। प्रपंच मुझे सेवा तथा प्रेम की साधना का क्षेत्र दीखता है।

लोग कहते हैं कामिनी कंचन बाँधते हैं, मैंने सीखा है कि काम और लोभ बाँधते हैं। बेचारी कामिनी और रुपये का दोष नहीं। प्रभु की कृपा के साथ तो यह दोनों काम और लोभ के क्षय के साधन बनते हैं। जंगल में जाकर काम क्षीण नहीं होता, गृहस्थ में रहकर होता है।

मैंने तो समूचे जीवन को ही साधना करके सीखा है, मैं जीवन से भाग कैसे सकता हूँ? तप, त्याग तथा वैराग्य उस साधना के आदर्श हैं। यहाँ अभीप्सा की, समर्पण की, अनन्यता की, प्रेम तथा सेवा की माँग है। यहाँ माँग है सौम्यता की, पूरी तरह से प्रभु का होकर उसी के लिये जीने की। इतना विशाल अन्तर है दोनों दृष्टिकोणों में।

वहाँ पर सुस्वाद भोजन का निषेध है। वहाँ स्त्री के दर्शन का निषेध है। वहाँ पर किसी गृहस्थी के यहाँ टिकने का निषेध है साधु के लिये। साधु तप और त्याग की मूर्ति होता है उस विचारधारा के अनुसार। इस विचारधारा में तो जो उसकी शक्ति के प्रसार का प्रखर यन्त्र बना है, जिसने आपा खो दिया है माँ में, जिसका जीवन अपने लिये नहीं दूसरों के लिये ही है, जो दूसरों की सेवा के निमित्त ही जीता है, प्रभु के प्रसाद का वितरण ही जिसके जीवन में एक बात है, जो प्रेम तथा मधुरता की मूर्ति बना है, जिसे अपने कल्याण की कामना नहीं रही, वह है साधु। जो पूरी तरह से समर्पित हो चुका है महाशक्ति के हाथों में, जो यन्त्र बना खेलता है उसकी गोद में – अनवरत, वह है साधु। बाहर का कोई बन्धन उसे साधु नहीं बनाता है।

न ही उसे असाधु बना सकता है, कोई बाह्य बन्धन अथवा उसका अभाव। सौम्यता उसमें सहज होती है, अन्यथा प्रेम कैसा।

वह जो कुछ ग्रहण करेगा प्रभु से। जो कुछ उसका है वह प्रभु का है। उसका खाना-पीना सभी प्रभु से ही है। वह किसी भी बाह्य परिस्थितियों से भागता नहीं। उसने तो सभी कुछ स्वीकार करना सीखा है। वह डरता नहीं क्योंकि डर का अर्थ है संस्कार का होना। वह तो क्षीण होने चाहिये। अस्तु, वह माँ पर निर्भर हुआ स्वच्छन्द विचरता है। वह उसकी मार्ग दर्शिका ही नहीं, उठा कर ले जाने

वाली माँ होती है। उसका उद्धार पतन उसकी चिन्ता का विषय ही नहीं रहता। इस रास्ते का सिद्ध, साधु होता है। पूर्व की अवस्था साधना की है। इतना अन्तर है विचारधाराओं का। ऐसी दशा में मैं कैसे हो सकता हूँ एक सिद्ध साधु जो दूसरों में तप एवं त्याग की भावना जागृत कर सके, जो दूसरों को संयम सिखा सके, वैराग्य का उपदेश दे सके। यदि मेरे पिछले समूचे जीवन का निराकरण हो सके तभी सम्भव है कि मैं और तरह का साधु बन पाऊँ। परन्तु इसके लिए सम्भवत: कई जन्मों की आवश्यकता होगी।

इस साधना में जो त्याग होता है वह आन्तरिक और सहज है। इसमें जो वैराग्य होता है वह तो प्रभु के चरणों में अनन्यता ही होती है। इसमें जो तप संयम है यह तो रास्ते की माँग है। प्रेम का नेम मात्र है और कुछ नहीं।

मैं अपने व्यवहार में ऐसा ही हूँ। स्त्रियों के बरतने में नि:संकोच हूँ। जैसे पुरुष बर्तते हैं वैसे स्त्रियाँ बर्त सकती हैं। मुझे कोई आपत्ति नहीं होती है। मुझे कोई भय नहीं लगता है। रही समाज की बात, हमारे समाज में वह पुरानी विचारधारा रग-रग में समाई है। उसी के अनुकूल हमारी मर्यादायें हैं। मेरे लिये तो साधना और आन्तरिक आध्यात्मिक सत्य का ही एक पैमाना है। इसीलिए तो टक्कर हो जाती है। इसीलिये तो लोग निन्दा करते हैं। क्या लोक भय से भयभीत होकर अपना आध्यात्मिक सत्य खो दूँ? क्या जिस बात को मैं समाज के लिये अहितकर समझता हूँ उसी को समाज से डर कर करने लगूँ। मैं स्त्री और पुरुषों को इतना दूर-दूर रहना - परस्पर छूत मानता हूँ। परस्पर स्वभावत: होने वाले सम्पर्कों को स्वीकार करना ही साधना की माँग है। यदि किसी के हित की यह बात है कि मैं अकेले में उससे मिलूँ तो मैं इसलिये न मिलूँ कि लोग क्या कहेंगे यह कैसे हो सकता है? अनावश्यक अकेलापन मैं नहीं चाहता। पर आवश्यक अनावश्यक का निर्णय समाज करेगा क्या? वहाँ तो योग्यता नहीं। वहाँ सहानुभूति भी नहीं है। मैं तो अपने को वैद्य समझता हूँ। रोगियों का उपचार करता फिरता हूँ। वैसे ही बर्तता और स्वतन्त्रता लेता हूँ।

अनुचित प्रवाह स्वतः शान्त होते हैं और आज तक होते आयें हैं। हाँ यदि हमारे सम्बन्ध में कालिमा है तो गलती है। वैसा न होना चाहिये।

यदि मेरी नीयत ठीक है, यदि मुझमें बल है और दिमाग चकरा नहीं जाता है विरोध को देखकर, यदि उस भीतर काम करने वाली शक्ति ने मुझे सँभाला है और बरत रही है, तो प्रवाह स्वतः पैदा होंगे और शान्त होंगे। उनसे दूर जाना और बिचक जाना तो मैं कायरता ही समझता हूँ। आध्यात्मिक मरण होगा वैसा करना।

समाज की दृष्टि में मैं साधु नहीं हूँ यह ठीक है और अनिवार्य है। कहाँ है आज के समाज में मेरे लिये जगह? यदि मेरी उपयोगिता नहीं तो क्या चिपका रहा हूँ इस देह से, या इस स्थिति से? कोई भी किसी तरह से भी इस जीवन लीला को समाप्त कर दे तो मुझे तनिक भी रंज न होगा। माँ की अनुमति ही सर्वश्रेष्ठ है। एक अजीब चीज़ बनाये हुए माँ जिला रही है। यह अजब खेल है।

मैंने तो राम को सभी में देखना, उसी को प्यार करना, उसी की सेवा करना, उसी के द्वारा भीतर-बाहर के खेल को देखना - यही जाना है। आपा खोना ही आदर्श रहा है। प्रेम में उसे पहचाना है। उसके विशाल रूप में लीन होना सीखा है। पाया है, नहीं पाया है यह भी तो मुझे पता नहीं। पाया न पाया की चिन्ता तो रही नहीं।

न जाने माँ ने ऐसा विचित्र अटपटा मार्ग क्यों दिया है इस नादान को।

❖ ❖ ❖

महत्त्व का बीज

क्या सब मनुष्यों में जीवन की किसी न किसी अवस्था में यह भाव रहते हैं कि मैं कुछ न कुछ करके दिखाऊँगा, कुछ बनके दिखाऊँगा अथवा नहीं? इस प्रश्न का निश्चित रूप से उत्तर देना कठिन है। ऐसा होना स्वाभाविक तो प्रतीत होता है। मनुष्य दिव्य

शक्ति का अंश है, दिव्यता उसका जन्म-सिद्ध अधिकार है। और यदि उसमें ऐसी स्फुरणायें हों तो विचित्रता क्या?

जो व्यक्ति इच्छा के क्षेत्र को पार कर उस शान्त धाम में प्रतिष्ठित हो चुका है, वह उमंग से रहित हो जाता है। दूसरे, वह व्यक्ति जो अभी वस्तुतः मनुष्य नहीं बना, इच्छा के क्षेत्र में नहीं आया, वह भी ऐसी तरंग से वंचित है। इसी उमंग को महत्त्वाकांक्षा कहते हैं। यही है वास्तव में महत्त्व का बीज। किसी भी क्षेत्र में इसके बिना आगे बढ़ना दुष्कर समझ में आता है।

महत्त्वाकांक्षा ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को पतन के गड्ढे में भी ले जा सकती है या विकास की चरम सीमा पर भी पहुँचा सकती है। मैं कुछ करूँगा-बनूँगा। ठीक! परन्तु क्या? यही तो प्रश्न है जिस पर सब निर्भर हैं। कुछ बनने का आसान तरीका। कोई घोर बुराई करना हो सकता है। 'बदनाम भी होंगे तो क्या नाम न होगा?' परन्तु ऐसे तरीके मनुष्य का केवल पतन करते है। ऐसे मनुष्य केवल असामंजस्य तथा अशान्ति का कारण होते हैं। प्रसिद्ध चोरों, डाकुओं तथा हत्यारों के जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाये तो हमें महत्त्वाकांक्षा बीज रूप में निहित दिखाई देगी। यदि यही शक्ति बचपन में किसी भली ओर प्रवृत्त की जाती तो वही व्यक्ति समाज के हितकारी सेवक बन पाते।

महत्त्वाकांक्षा बहुत अमूल्य शक्ति है । इसे अपने में या किसी दूसरे में दबाना नहीं चाहिए। तिरस्कार करने से यह प्रायः दब जाती है। अपने को कभी सामर्थ्यहीन न समझें और किसी भी काम को असम्भव न जानें। परन्तु एक बात से अवश्य बचने की आवश्यकता है। दिवास्वप्नों में ही यह सारी की सारी शक्ति समाप्त न हो जाये। वह व्यक्ति जिसका आशीर्वाद जीवन में झलकता है, जिसके मनोरथ स्थूल सृष्टि के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं, वह वास्तव में कुछ कर सकता है; अन्यथा उसकी शक्ति बह जायेगी पारे की तरह।

यदि सचमुच कुछ करना है, कुछ बनना है, तो उसकी तैयारी अभी से आरम्भ कर दो। पहले इस बात को समझ लेना चाहिये कि कुछ बनना मौलिक बात है। कुछ तत्त्व आप उपार्जन कर लेंगे

– कुछ पवित्र ज्ञान तथा सामर्थ्य – चरित्र आप बना लेंगे तो उसका आविर्भाव स्वयं ही बड़े कामों में होगा। और यदि आप इसके महत्त्व को न समझकर थोथी कीर्ति की दासता के लिये छटपटाते हैं तो आगे गड्ढा है, न जाने किस समय लुढक जायें। चरित्र बहुत बड़ी बात है। मस्तिष्क की शक्ति का उपार्जन, हदय की पवित्रता की प्राप्ति तथा वज्र संकल्प का आविर्भाव – इस सबके साथ-साथ प्रेम तथा सेवा का रोम-रोम में रमा हुआ भाव जो इन सबमें पूर्ण सामन्जस्य उत्पन्न कर सके – यह है चरित्र निर्माण! यह है कुछ बनना!

यह होगा विचार के द्वारा और उस विचार को क्रिया रूप में परिणत करने से; आत्म परीक्षण और अपने उच्चात्युच्च भावों को अपने दैनिक जीवन में लाने से। केवल मात्र भले मनोरथों से चरित्र की दृढ़ भित्ती तैयार नहीं होती क्योंकि नरक का रास्ता भी तो पुण्यमय मनसूबों से जुड़ा हुआ है। हम थोड़े से आरम्भ करें परन्तु करना आरम्भ कर दें। धीरे-धीरे हम अपने को बदलने में पूर्णतया सफल हो जायेंगे।

संसार से वास्ता पड़ने पर हमारी महत्त्वाकांक्षा की परीक्षा होती है। साधारण मनोवृत्ति पानी की तरह निम्नगामी हो जाती है। आदर्शवाद शीघ्र ही हवा हो जाता है। दुनिया के थपेड़े उसे सदैव के लिए निष्प्राण कर देते हैं। ऐसे समय में खबरदार! यदि बेखबर हुए तो तुम्हारी भी वही गति होगी जो सब की।

महत्त्वाकांक्षा यदि चरित्र का आधार नहीं रखती और यदि चरित्र में प्रीति तथा सेवा का दृढ़ भाव ही नहीं तो व्यक्ति घृणा का भण्डार बन जाता है। अहंकार के मद से मस्त व्यक्ति दूसरों को तुच्छ समझने लगता है, यह बहुत भयंकर बात है। यह व्यक्ति तथा समाज के लिये भयावह है। ऐसा महत्त्वाकांक्षी अपनी शक्ति का उपयोग दूसरों को कुचलने में करता है। उन पर शासन स्थापित करना और एकराष्ट्र बनना उसकी उद्योगशीलता का लक्ष्य हो जाता है।

शक्ति का योग यदि ऐसे प्रेम के साथ हो जाता है जो सीमातीत है, जिसमें त्याग तथा सेवा का भाव इतना भरा है कि अपने तथा पराये का भेद नहीं तो इसी को तो ज्ञान कहते हैं। यदि ऐसा नहीं तो

वही होता है जो आज इस भू-मण्डल में हो रहा है - पाशविकता का अतिपार्शव घोर नग्न नृत्य! महत्त्वाकांक्षा को प्रेम के क्षेत्र में, सेवा तथा त्याग के क्षेत्र में डाल दो, चरित्र का स्वयं निर्माण होने लगेगा। आप वास्तविक महत्त्व को प्राप्त करेंगे। दूसरों की दी हुई कीर्ति से धोखा हो सकता है, अपनी अन्तरात्मा का साक्ष्य - अपनी अन्तरात्मा का सन्तोष - धोखा नहीं देता। बस यही पथ है महत्त्वाकांक्षा की अपार पूर्ति का।

❖ ❖ ❖

Refuse to be upset

To get rid of undesirable thoughts, emotions and habits, we have to disregard them, and direct the energies of the mind in the positive direction of the remembrance of the Name, the contemplation of self and of the virtue that we want to have. Whenever a recurrence of undesirable elements occurs, it is to be looked upon with confidence that it must wear out gradually. It cannot remain for long, and hence is not to be bothered about. Refuse to be upset. After all, momentum is as important a factor in the mental and emotional spheres as in the physical one.

❖ ❖ ❖